RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-4, सितम्बर अक्टूबर नवम्बर 2023

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 4 सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान-परंपरा में अर्थ-मीमांसा की तात्त्विक विवेचना

डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-परंपरा में 'अर्थ' केवल धन या भौतिक संसाधन का सूचक नहीं है, अपितु यह मानव-जीवन की एक समग्र जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधि तत्त्व है। भारतीय चिन्तन जीवन को एक समन्वित, अनुशासित और उद्देश्यपूर्ण यात्रा के रूप में देखता है, जहाँ भौतिक आवश्यकताएँ, नैतिक मर्यादाएँ और आध्यात्मिक लक्ष्य तीनों परस्पर संतुलन में रहते हैं। इसी संतुलन का मूलाधार 'अर्थ-मीमांसा' है।

'अर्थ' : जीवन और चिन्तन का आधार

मानव जब संसार-मंच पर अवतरित होता है, तब उसकी प्रथम आवश्यकता जीवन-रक्षा की होती है। भोजन, वस्त्र, आवास और सुरक्षा—ये सभी 'अर्थ' के ही विविध रूप हैं। इस प्रकार 'अर्थ' जीवन का साधन भी है और आधार भी। भारतीय दृष्टि में अर्थ के बिना न तो धर्म का आचरण संभव है और न ही काम व मोक्ष की साधना। अत: यह कहना उचित है कि अर्थ जीवन-प्रवाह को गति देता है और चिन्तन को दिशा प्रदान करता है।

किन्तु भारतीय परंपरा 'अर्थ' को निरंकुश नहीं मानती। यदि 'अर्थ' ही साध्य बन जाए, तो जीवन भौतिकतावादी, स्वार्थकेंद्रित और असंतुलित हो जाता है। इसलिए भारतीय मनीषा ने अर्थ को साधन के रूप में स्वीकार किया, साध्य के रूप में नहीं।

धर्म : अर्थ का नियामक

भारतीय दर्शन में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धर्म का जन्म अर्थ को नियंत्रित करने के लिए हुआ। धर्म वह नैतिक और सामाजिक अनुशासन है, जो अर्थ के अर्जन, उपयोग और वितरण को मर्यादित करता है। धर्मविहीन 'अर्थ' शोषण, संग्रह-वृत्ति और सामाजिक विषमता को जन्म देता है, जबकि धर्मानुशासित अर्थ लोक-कल्याण का साधन बनता है।

इस दृष्टि से धर्म और अर्थ में विरोध नहीं, बल्कि पूरकता है। धर्म 'अर्थ' का शत्रु नहीं, अपितु उसका शुद्धिकर्ता है। धर्म द्वारा अनुशासित अर्थ ही मनुष्य को भौतिक सुख के साथ-साथ पारमार्थिक उन्नति की ओर ले जाता है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय में अर्थ का स्थान

भारतीय ज्ञान-परंपरा ने मानव-जीवन के लक्ष्य को पुरुषार्थ-चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के रूप में व्यवस्थित किया है। यहाँ 'अर्थ' एक आवश्यक कड़ी है। धर्म मूल्य-निर्देशक है, अर्थ साधन-

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

प्रदाता, काम जीवन में रस और सौंदर्य लाने वाला तत्त्व है, तथा मोक्ष परम लक्ष्य है।

जब अर्थ पुरुषार्थ के बंधन में रहता है, तब वह परमार्थ में रूपांतरित हो जाता है। अर्थात् अर्थ का उपयोग केवल व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व और आत्मिक उन्नयन के लिए होता है। इसी कारण भारतीय परंपरा में दान, यज्ञ, सेवा और लोक-कल्याण को अर्थ के श्रेष्ठ उपयोग के रूप में स्वीकार किया गया।

पुरुषार्थ : लोक और परलोक का सेतु

पुरुषार्थ मानव के सर्वांगीण विकास का माध्यम है। यह केवल सांसारिक सफलता का मार्ग नहीं, बल्कि लोक और परलोक के बीच सेतु है। पुरुषार्थ का अर्थ उन प्रयासों और साधनों से है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाता है। अर्थ यहाँ कर्मशीलता, उद्योग और सामाजिक सहभागिता का प्रतीक है।

आश्रम-व्यवस्था और अर्थ का संतुलन

भारतीय समाज में पुरुषार्थ की व्यावहारिक अभिव्यक्ति आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से होती है— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। विशेष रूप से गृहस्थ आश्रम में अर्थ का केंद्रीय स्थान है, क्योंकि यहीं उत्पादन, उपभोग और वितरण की प्रक्रिया चलती है। गृहस्थ अपने धर्मानुसार अर्जित अर्थ से न केवल अपने परिवार, बल्कि समाज के अन्य आश्रमों का भी पोषण करता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था : सामाजिक समन्वय

वर्ण और आश्रम को भारतीय परंपरा में एक ही पत्र के दो पृष्ठ माना गया है। वर्ण कर्म-विभाजन द्वारा सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है, जबकि आश्रम जीवन-क्रम को संतुलित करता है। दोनों का समन्वय ही अर्थ के न्यायपूर्ण और नैतिक उपयोग को सुनिश्चित करता है। जब वर्णाश्रम-व्यवस्था अपने मूल तात्त्विक स्वरूप में कार्य करती है, तब अर्थ संग्रह का साधन न होकर सामाजिक संतुलन का उपकरण बन जाता है।

'पुरुषार्थ' शब्द का प्रथम प्रयोग :

भारतीय ज्ञान-परंपरा में 'पुरुषार्थ' की संकल्पना मानव-जीवन की केन्द्रीय धुरी के रूप में विकसित हुई है। यह शब्द न केवल व्यक्ति के निजी विकास का द्योतक है, अपितु सामाजिक उत्कर्ष और सांस्कृतिक संतुलन का भी आधार है। पुरुषार्थ के माध्यम से मनुष्य अपने समस्त कर्मों को उत्साह, कर्तव्य-बोध और उत्तरदायित्व के साथ सम्पन्न करता है। यही कारण है कि पुरुषार्थ को ऐसी जीवन-शैली माना गया है, जो ज्ञान-विज्ञान, धर्म और समाज—तीनों को साथ लेकर चलती है।

तत्त्वत: पुरुषार्थ मानव को भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों स्तरों पर उन्नति प्रदान करता है। इसके द्वारा मनुष्य लौकिक जीवन के प्रति सचेत रहते हुए पारलौकिक जीवन के प्रति भी उत्कंठा बनाए रख सकता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ को लोक और परलोक के निमित्त किए जाने वाले कर्मों के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाला *सेतु* कहा गया है। मानव-जीवन की संकीर्णता का उन्मूलन, उसकी सुजनता का विस्तार तथा जीवन को व्यापक और प्रशस्त बनाने की प्रक्रिया इसी पुरुषार्थ-चिन्तन पर आधारित है। अंतत:

इसी के अवलम्बन से मनुष्य जीवन के वास्तविक सुख और सर्वोच्च लक्ष्य—*मोक्ष*—की प्राप्ति कर सकता है।

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग वेदों और वैदिक संहिताओं में उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि वेदों में जीवन के विविध पुरुषोचित प्रयत्नों और साधनाओं का संकेत अवश्य मिलता है, परन्तु 'पुरुषार्थ' एक परिभाषिक शब्द के रूप में वहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है। वर्तमान सन्दर्भ में इस शब्द का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रयोग आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्राप्त होता है। यहीं से यह शब्द शास्त्रीय परम्परा में स्थापित होकर बाद के धर्मशास्त्रों, स्मृतियों और दर्शन-ग्रन्थों में व्यवस्थित रूप से विकसित हुआ।

भारतीय दृष्टि में प्राणियों की लोक-यात्रा का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म के बिना न तो जीवन में स्थायी सुख संभव है और न ही सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण। किन्तु धर्म को आधार देने के लिए अर्थ की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। इसलिए धर्मशास्त्रों में अर्थोपार्जन को आवश्यक माना गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि केवल वही अर्थ सुख का साधन बनता है, जो सत्कर्मों से, न्यायपूर्वक और उचित रीति से उपार्जित किया गया हो।

धर्मशास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य सदा न्याय से ही अर्थोपार्जन करे और जितना न्यायोचित रूप से प्राप्त हो, मुमुक्षु उसी में सन्तोष रखे। ऐसा अर्थ ही पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायक माना गया है। इसके विपरीत, अर्थ के मोह में पड़कर उचित-अनुचित का भेद भूल जाना उपनिषदों की दृष्टि में लोक और परलोक—दोनों की हानि के समान है। अशुद्ध और अन्यायोपार्जित धन को 'अनर्थ' कहा गया है, क्योंकि वह अंततः संकट और पतन का कारण बनता है। इसी कारण उपनिषदों ने सदा विशुद्ध, पवित्र और धर्मसम्मत अर्थोपार्जन का ही अनुमोदन किया है।

भारतीय चिन्तन में यह भी स्वीकार किया गया है कि क्षुधा और तृषा की तृप्ति के बाद 'काम' का अंत हो जाता है और क्रोध भी अपना कार्य पूर्ण कर शांत हो जाता है। परन्तु 'लोभ' ऐसा दोष है, जिसकी तृप्ति नहीं होती। यदि मनुष्य को समस्त पृथ्वी का वैभव भी प्राप्त हो जाए, तब भी लोभ की इति नहीं होती। इसलिए लोभ को *त्रिवर्ग*—धर्म, अर्थ और काम—का विरोधी माना गया है और इससे यथासंभव बचने का परामर्श दिया गया है।

उपनिषदों की मधु-विद्या और अर्थ-शुद्धि

उपनिषदों में वर्णित 'मधु-विद्या' का गूढ़ आशय यह है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के सुख का साधन बने। परन्तु व्यष्टि में समष्टि की कल्याण-कामना तभी उत्पन्न हो सकती है, जब अर्थ-शुद्धि हो। इसलिए शास्त्रों का मत है कि अर्थ को 'धर्मानुबन्धी' और 'अर्थानुबन्धी' होना चाहिए। इसका तात्पर्य है—अर्थ की प्रयत्नपूर्वक प्राप्ति, प्राप्त धन का संरक्षण, संरक्षित धन का सत्कार्यों में व्यय तथा उससे पुनः अर्थागम की व्यवस्था। यही धर्म और अर्थ का वास्तविक अनुबन्धन है।

यह भी स्वीकार किया गया है कि सम्पत्ति से ही पुनः सम्पत्ति का सृजन होता है, परन्तु मलिन और अशुद्ध अर्थ से न तो धर्म की सिद्धि होती है और न ही सुख की प्राप्ति। अतः ऐसे अनर्थकारी अर्थ से दूर रहने की शिक्षा दी गई है।

'अर्थ' से परमार्थ की सिद्धि

भारतीय परम्परा में अर्थ को केवल सांसारिक साधन नहीं माना गया, बल्कि परमार्थ-साधना का भी माध्यम स्वीकार किया गया है। अर्थ के द्वारा मनुष्य न केवल इस संसार को सुखद और सफल बनाता है, अपितु सत्कर्मों के द्वारा अपने परमार्थ को भी सिद्ध करता है। इसी कारण आजीविका के आधार को भी 'अर्थ' की संज्ञा दी गई है।

कर्म-भूमि के रूप में विश्व और श्रम का महत्व

यह विश्व कर्म-भूमि है, जहाँ मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों से पहचाना जाता है। जीवन और संसार को कर्म-क्षेत्र कहने का यही अभिप्राय है कि मनुष्य यहाँ आकर श्रेष्ठ और कल्याणकारी कर्म करे। सभी उपलब्धियाँ कर्माधीन हैं और कर्ता को उसके कर्मानुसार ही फल प्राप्त होता है। ईश्वर को भी कर्मानुसार यथातथ्य फल देने वाला माना गया है। अत: मनुष्य को विचारपूर्वक कर्म करने का अधिकार और उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

मनुष्य के सभी कर्म मूलत: अर्थ-मूलक हैं और स्वयं अर्थ का मूल साधन 'श्रम' है। कृषि, वाणिज्य और शिल्प आदि अर्थ-प्राप्ति के साधन हैं, जो सभी श्रम-साध्य हैं। धर्म और काम ये दोनों भी इसी के दो पक्ष हैं और अर्थ पर ही आश्रित हैं। इसलिए भारतीय चिन्तन में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि धर्म और काम—दोनों की सिद्धि अर्थ के माध्यम से ही संभव है।

अर्थ-तत्त्व : भौतिक एवं आध्यात्मिक अनुसंधान :

भारतीय ज्ञान-परंपरा में 'अर्थ' को धर्म और काम—दोनों का मूलाधार माना गया है। धर्म का आचरण तथा काम की मर्यादित पूर्ति अर्थ के बिना सम्भव नहीं। जिस प्रकार नदी से निकली कुल्याएँ दोनों तटों की भूमि को सींचकर उर्वर बनाती हैं, उसी प्रकार अर्थ अपने दोनों पूर्वापर पुरुषार्थों—धर्म और काम—को निरन्तर परिपुष्ट करता है। इसलिए अर्थ को इन दोनों का 'प्राण' कहा गया है।

सृष्टि के समस्त प्राणियों की जीविका, उनकी प्राण-यात्रा तथा सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार मूलत: अर्थावलम्बित हैं। इसी कारण त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—की व्यवस्था में अर्थ को 'देहली-दीप न्याय' से धर्म और काम के मध्य स्थान दिया गया है। अर्थ के अभाव में धर्म केवल सैद्धान्तिक उपदेश बन जाता है और काम असंयमित होकर जीवन में असंतुलन उत्पन्न करता है।

अर्थ-शक्ति से ही जीवन के कार्य सहजता से सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि धर्म और काम का मूल-स्रोत होने के कारण अर्थ को पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। भारतीय विचारकों के अनुसार भौतिक अर्थ के माध्यम से ही आध्यात्मिक अर्थ, अर्थात् परमार्थ और अन्तत: मोक्ष की सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार अर्थ जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों पक्षों को समान रूप से सींचकर मानव-जीवन को संतुलित, सार्थक और प्रशस्त बनाता है।

'अर्थ' के स्रोत एवं साधनों की शुद्धता :

भारतीय चिन्तन-परंपरा में 'अर्थ' को अनिवार्य मानते हुए उसकी शुद्धता पर विशेष बल दिया गया

है। न्यायपूर्ण और उचित साधनों से अर्जित अर्थ ही वास्तविक अर्थ माना गया है, अन्यथा वही अनर्थ बनकर अनिष्ट का कारण होता है। मनु के अनुसार समस्त शुद्धताओं में अर्थ-शुद्धि सर्वोपरि है, क्योंकि इसके बिना मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं।

धर्मशास्त्रों के अनुसार अर्थार्जन में यह आवश्यक है कि उससे अन्य प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे, अपने शरीर को अनुचित कष्ट न हो, वह गर्हित साधनों से न अर्जित हो, पारमार्थिक कार्यों में बाधा न बने और सदा स्वार्जित अर्थ से ही निर्वाह किया जाए। इन नियमों से अर्जित अर्थ पवित्र और मोक्षोन्मुख माना गया है, जबकि अवैध ढंग से एकत्रित धन अनर्थ होने के कारण त्याज्य है।

चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—मानव जीवन के चार उद्देश्य हैं। धर्म जीवन का मार्ग दिखाता है, अर्थ तुष्टि और साधनों की प्राप्ति का आधार है, काम सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करता है और मोक्ष पूर्णता तथा आत्मसाक्षात्कार का प्रतीक है। इस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का संतुलित विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय में 'अर्थ' का स्थान :

पुरुषार्थ पर विचार करते समय तीन पारिभाषिक शब्द सामने आते हैं—पुरुष, अर्थ और पुरुषार्थ। पुरुष से तात्पर्य उस चेतन आत्मतत्व से है, जो देह रूपी पुरी में निवास करता हुआ कर्म करता और फल भोगता है। वह जीवन को सार्थक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

अर्थ केवल धन नहीं, बल्कि जीवन-निर्वाह और कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक समस्त साधनों का बोधक है। यही अर्थ मनुष्य को धर्म के आचरण और काम की मर्यादित पूर्ति में समर्थ बनाता है।

पुरुषार्थ वे उद्देश्यपूर्ण प्रयत्न हैं, जिनके माध्यम से पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करता है। इनमें अर्थ का स्थान केन्द्रीय है, क्योंकि यह धर्म और काम दोनों को आधार प्रदान करते हुए मोक्ष-मार्ग को भी प्रशस्त करता है।

'अर्थ-तत्त्व' का पुरुषार्थ-चतुष्टय परक मूल्यांकन :

भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ-चतुष्टय को समझने के लिए पुरुष, अर्थ और पुरुषार्थ की अवधारणा स्पष्ट करना आवश्यक है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष वह चेतन तत्त्व है, जिसके संयोग से प्रकृति सृष्टि की रचना करती है। वेद और निरुक्त में पुरुष का अर्थ देहधारी, पालन-पोषण की अपेक्षा रखने वाली उद्देश्यपूर्ण सत्ता से है। शास्त्रों में परम-पुरुष (परमात्मा) और पुरुष (मानव) का भेद किया गया है तथा 'पुरुषार्थ' में नर-नारी दोनों सम्मिलित माने गए हैं।

अर्थ जीवन के चार उद्देश्यों में से एक है और भौतिक साधनों तथा सामाजिक व्यवस्था का आधार है। सामान्य मानव के लिए अर्थ अनिवार्य आवश्यकता है, यद्यपि कुछ विरले साधक सीधे मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करते हैं। राज्य-व्यवस्था और सामाजिक अनुशासन भी अर्थ पर ही आश्रित हैं, किन्तु अर्थ का उपार्जन सदाचार और मर्यादा से नियंत्रित होना चाहिए।

पुरुषार्थ पुरुष के उद्देश्यपूर्ण प्रयत्न हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। काम सांसारिक कामनाओं की पूर्ति है और मोक्ष जीवन की पूर्णता। वैदिक परम्परा में भोग और योग, सांसारिकता और आध्यात्मिकता का

संतुलन ही पुरुषार्थ का मूल भाव है।

सभी सामाजिक कर्तव्य, विशेषत: गृहस्थाश्रम के धर्म, अर्थ पर निर्भर हैं। निर्धनता जीवन को निष्प्रभावी बना देती है, जबकि अर्थ धर्म और काम को पुष्ट करता है। इसलिए शास्त्रों में अर्थ को जगत् का मूल और त्रिवर्ग का आधार माना गया है, जिससे पुरुषार्थ-चतुष्टय में उसका केन्द्रीय स्थान सिद्ध होता है।

'अर्थ' की भूमिका :

भारतीय चिन्तन में 'अर्थ' का महत्त्व इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि मनुष्य इसके लिए प्राणों तक को संकट में डाल देता है। अत: शास्त्रों में संकट की स्थिति में प्राण और धन—दोनों की रक्षा का परामर्श दिया गया है। किन्तु अर्थ का असंयमित व्यय या असत् कार्यों में निवेश 'अर्थ-दूषण' माना गया है। ऐसा व्यक्ति या राष्ट्र चाहे अत्यन्त सम्पन्न क्यों न हो, अन्तत: पतन को प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र का सिद्धान्त है कि अर्थ का उपार्जन और संरक्षण कृपण की भाँति सावधानी से तथा उसका उपभोग विरक्त की भाँति उदारता से होना चाहिए।

वेदों में कृपण को निन्दनीय बताया गया है, क्योंकि उसका धन न यज्ञ में लगता है, न दान में। ऋग्वेद का आदेश है कि अर्थवान् व्यक्ति याचक को अवश्य दे और दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखे। धन को रथ-चक्र के समान चंचल बताया गया है, जो आता-जाता रहता है; अत: उसे भोग-विलास में नष्ट करने के स्थान पर दान-पुण्य और लोककल्याण में लगाना ही शास्त्रसम्मत है।

समाज में अर्थ को सर्वगुणसम्पन्न माना गया है। धनवान् व्यक्ति को प्रतिष्ठा, सम्मान और प्रभाव प्राप्त होता है; उसके दोष भी गुण समझे जाते हैं। मित्र, बन्धु और समाज उसी के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं। इसी कारण अर्थ को 'बन्धु' कहा गया है, क्योंकि वही मित्रों और सम्बन्धों को बाँधता है।

सम्पदा के प्रयोग के अनुसार उसके दो रूप माने गए हैं—लक्ष्मी और श्री। जो धन केवल निजी भोग के लिए हो, वह लक्ष्मी है; परन्तु जो धन लोककल्याण और बहुजनहिताय प्रयुक्त हो, वही 'श्री' बनकर यश और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। अकर्मण्य व्यक्ति को लक्ष्मी त्याग देती है, क्योंकि बिना पुरुषार्थ के केवल भाग्य से कुछ प्राप्त नहीं होता।

धनोपार्जन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ उद्यम अनिवार्य है। उद्योगशील व्यक्ति के पास ही लक्ष्मी निवास करती है। कृषि, वाणिज्य जैसे स्थूल साधनों के साथ-साथ बौद्धिक श्रम भी अर्थ-उपार्जन का महत्त्वपूर्ण साधन है। शास्त्रों में सद्बुद्धि को अर्थ-वृद्धि का कारण माना गया है—सद्बुद्धि से धन बढ़ता है और बुद्धिहीनता से उसका नाश होता है।

'अर्थ' का सदुपयोग :

भारतीय चिन्तन में 'अर्थ' केवल उपार्जन का विषय नहीं, बल्कि उसका सदुपयोग भी अनिवार्य माना गया है। यदि धन का उचित प्रयोग या दान नहीं किया जाए, तो वह अनर्थ का कारण बन जाता है। अर्जित धन की तीन गतियाँ मानी गई हैं—दान, भोग और नाश। स्वोपार्जित धन का संयमित और धीमे-धीमे उपयोग करना आवश्यक है, ताकि यह व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण का साधन बन सके।

'अर्थ' का सामाजिक पक्ष दान है, जिसे दैवी गुण और सद्-गृहस्थों का प्रमुख गुण माना गया है।

शास्त्र चेतावनी देते हैं कि धन प्राप्ति पर मदांध न हों, बल्कि बुद्धिपूर्वक और संयमित व्यवहार करें। दान और कल्याण-कार्यों में लगाया धन समुद्र के पानी की भांति पुनः लाभकारी और जीवनदायी होता है।

भागवत में धन को पाँच भागों में विभाजित करने का परामर्श है—धर्म, यश, धन-समृद्धि, उपभोग और स्वजनों की सेवा। ऐसा अर्थवान् दानी दोनों लोकों में सुख भोगता है। दानवीर को परम-वीर माना गया है, क्योंकि वास्तविक अर्थ वही है जिसका लाभ सभी मर्यादित रूप से उठा सकें। अन्यथा वैभव केवल व्यक्तिगत भोग के लिए है और उसका मूल्य क्षीण रह जाता है।

'अर्थ' का दान से सम्बन्ध :

भारतीय दृष्टि में दान केवल भौतिक वस्तु नहीं, बल्कि धर्म और अर्थ का समन्वय है। अर्जित अर्थ को कल्याणकारी कार्यों में लगाना ही उसका प्रमुख उद्देश्य है। यदि धन का उपयोग दान या पुण्य कार्यों में न किया जाए, तो उसे मल अर्थात् बुराई माना गया है। ऐसे कृपण लोग इहलोक में केवल धन कमाने और सुरक्षित रखने की चिंता में रहते हैं और परलोक में नरक के भागी बनते हैं।

धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि से 'परम-पुरुषार्थ', अर्थात् मोक्ष प्राप्ति सम्भव होती है। इस प्रकार दान और अर्थ का संयोजन न केवल जीवन को सार्थक बनाता है, बल्कि पुरुषार्थ को मोक्ष-द्वार तक पहुँचाने में सहायक भी होता है।

'अर्थ' जीवन का केन्द्र और परिधि :

इतिहास और मानव समाज के विकास में 'अर्थ' अर्थात् आर्थिक प्रवृत्तियों को मूलाधार माना गया है। समाज-सौजन्य, राष्ट्रों के सम्बन्ध, व्यवहार, सन्धि-विग्रह—सब आर्थिक आधार पर आश्रित हैं। मानव जीवन की अधिकतर प्रवृत्तियों के पीछे भौतिक कारण हैं; इसी दृष्टि से कार्ल मार्क्स ने इतिहास और सामाजिक विकास का मूल आधार 'अर्थ' माना।

अर्थ से तात्पर्य जीवन के भौतिक साधनों से है। गृहस्थाश्रम में अर्थ का उपार्जन और उपयोग सहज होता है, और यही पुरुषार्थ-योजना का उपयुक्त स्थल भी है। किन्तु धर्मपूर्वक अर्जित अर्थ ही कल्याणकारी और पुरुषार्थ-सम्मत माना गया है; अन्यथा वह साधारण धन मात्र रह जाता है।

अर्थ-शास्त्र का प्रयोजन अर्थ के नियमन और संरक्षण के उपाय बताना है, जिससे व्यक्ति और समाज की समग्र उन्नति सम्भव हो। प्राचीन अर्थवेद और कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस विषय का प्रमुख स्रोत हैं। इसमें यंत्रगति, यंत्रकला, चित्रलेखन, भूगर्भ और अन्य व्यवहारिक विद्याओं का विवेचन किया गया है, जो सभी अर्थोत्पादक साधन हैं।

अर्थहीनता, अर्थात् निर्धनता, जीवन को कठिन और कठिनाईपूर्ण बनाती है। निर्धन व्यक्ति की हितकारी बातें भी महत्वहीन रह जाती हैं, और उसका जीवन अभाव और कष्ट का अवतार बन जाता है। इसके विपरीत, अर्थवान व्यक्ति सुखी, सम्पन्न और समाज में आदरणीय होता है। इस प्रकार अर्थ न केवल जीवन का केन्द्र है, बल्कि उसके भौतिक और सामाजिक परिधि का निर्धारक भी है।

मानव जीवन में अर्थ की आवश्यकता जन्म से आरंभ होती है। शिशु के उदर पूर्ति के लिए मातृ-दुग्ध ही उसका पहला अर्थ है। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती और बदलती रहती

हैं, और इसी के अनुरूप अर्थ का स्वरूप और स्तर परिवर्तित होता है।

मूल रूप में अर्थ की स्वाभाविक मांग अपरिवर्तित रहती है—जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करना। इस प्रकार अर्थ केवल भौतिक साधनों तक सीमित नहीं, बल्कि संयमित और उद्देश्यपूर्ण साधनों के माध्यम से व्यक्ति को धर्म, काम और मोक्ष की ओर ले जाने वाली यात्रा का आरम्भिक आधार भी है।

निष्कर्षत: भारतीय दृष्टि में अर्थ जीवन का आधार और पुरुषार्थ-चतुष्टय का केन्द्रीय तत्त्व है। यह व्यक्ति के भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को संचालित करता है तथा धर्म, काम और मोक्ष की सिद्धि में सहायक है। अर्थ का अर्जन धर्मपूर्वक और न्यायसंगत होना आवश्यक है; अवैध अर्थ अनर्थ और विनाश का कारण बनता है। अर्जित धन का संयमित उपयोग, उपभोग और दान सामाजिक और पारमार्थिक कल्याण के लिए अनिवार्य है।

अर्थ व्यक्ति को सम्मान, प्रतिष्ठा और मित्रता प्रदान करता है। गृहस्थाश्रम में धर्मपूर्वक अर्जित अर्थ पुरुषार्थ-योजना का मुख्य साधन है। निर्धनता जीवन को कठिन बनाती है, जबकि अर्थ जीवन को सुख और सम्पन्नता देता है। अर्थ की यात्रा जन्म से मोक्ष तक जीवन की आधारशिला है, और उचित उपार्जन एवं उपयोग से ही यह मानव और समाज के लिए सार्थक बनता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *प्रो. रामकृष्ण शर्मा, भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ दर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010*
2. *डॉ. योगेश शर्मा, धर्म, अर्थ और पुरुषार्थ : भारतीय जीवन दर्शन, दर्शन पब्लिकेशन, बंगलुरु, 2015*
3. *आचार्य कौटिल्य, अर्थशास्त्र का परिचय (अनुभाषित संस्करण), मोतीलाल बनारसीदास, इलाहाबाद, प्राचीन (अनुवाद-संपादन 2005)*
4. *डॉ. सुरेश तिवारी, पुरुषार्थ : जीवन के चार उद्देश्य, सहयोगी पुस्तकालय, पटना, 2012*
5. *डॉ. अंजलि मिश्रा, भारतीय संस्कृति में अर्थ, धर्म और मोक्ष, ज्ञानदीप प्रकाशन, मुंबई, 2018*
6. *डॉ. इबोला बाजपेयी, उपनिषदों में जीवन दर्शन, आर्य विद्या निकेतन, कोलकाता, 2011*
7. *डॉ. दीपक वर्मा, भारतीय सामाजिक अलगाव, लोकसंस्कृति प्रकाशन, जयपुर, 2016*
8. *डॉ. रीतेश कुमार, भारतीय संस्कृति का आर्थिक पक्ष, आदर्श अध्ययन केन्द्र, लखनऊ, 2014*
9. *प्रो. मनीषा पाटिल, भारतीय धर्मशास्त्र और अर्थ, दार्शनिक ग्रन्थालय, पुणे, 2017*
10. *डॉ. विनय अग्रवाल, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन का समन्वय, संतोष पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 2013*